ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL**04292**
RNI REG. NO. UPBIL/**2014/66218** **PP. No.- 252-254**

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-20, No.- III, Issues-41, YEAR- July-Sept. 2026

डॉ. श्यामा चरण दुबे का "भारतीय समाज" : एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ0 आकांक्षा राय

सहायक आचार्य– समाजशास्त्र, डी0 सी0 एस0 के0 पी0 जी0 कॉलेज, मऊ (उ0प्र0) भारत

Received-13.08.2026, Revised-20.08.2026, Accepted-28.08.2026, **E-mail:akanksharai1980@gmail.com**

सारांशः अग्रणी भारतीय समाजशास्त्री–मानवशास्त्री डॉ. श्यामा चरण दुबे ने 1990 में भारतीय समाज की विशेषताओं एवं बदलते परिवेश को समसामयिक परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करने हेतु भारतीय समाज नामक पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद 2001 में वंदना मिश्रा ने किया तथा पुस्तक का प्रकाशन नेशनल ट्रस्ट के द्वारा किया गया।

इस पुस्तक के समीक्षात्मक अध्ययन में डॉ. दुबे द्वारा लिखे गए अध्यायों की समीक्षा करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि डॉ. दुबे ने अपनी पुस्तक में किन विशेष पहलुओं पर गंभीरता से विचार किया है और कौन से ऐसे पहलू है जो कि समसामयिक संदर्भ में लेखक की लेखनी से छूट गए हैं। इस पुस्तक के लेखन में "संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग किया गया है। इस समीक्षात्मक लेखन में भी यह प्रयास किया गया है कि इसी दृष्टिकोण से लेखक के विचारों की समीक्षा की जाए।

कुंजीभूत शब्द– भारतीय समाज, विविधता, जाति, ग्रामीण–नगरीय परिवर्तन, संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण, उथल–पुथल, परिवेश।

पुस्तक की पृष्ठभूमि– लेखक पुस्तक का लेखन 80 के दशक के अंतिम वर्षों में कर रहे होते हैं। यह दशक सामाजिक व आर्थिक रूप से उथल–पुथल से भरा दशक रहा है। वैश्विक स्तर पर इस दशक में सामाजिक व आर्थिक स्तर पर परिवर्तन की स्थितियाँ बनी। ऐसे परिवेश में लेखक ने भारतीय समाज की समकालीन स्थिति को स्पष्ट करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर लेखन कार्य किए, जिससे बदलते परिवेश के अंतर्गत भारतीय समाज की संरचनात्मक–सांस्कृतिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए समकालीन परिवर्तन को समझा जा सके।

पुस्तक की विषय वस्तु

प्राक्कथन– लेखक ने अपनी पुस्तक युवा पाठकों को समर्पित किया है जो भारतीय समाज को जानना चाहते हैं। लेखक ने पुस्तक लेखन में अपने अंतर्विषयिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि भारत जैसे विविधता पूर्ण समाज को पूर्णतया स्पष्ट कर पाना असंभव है। उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण पक्षों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। लेखक ने भाषा शैली को सहज बनाए रखने की बात कही है तथा साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया है कि हो सकता है, कहीं– कहीं उनके विचार हावी हो गए हो, परंतु तथ्यों को मौलिक रूप में ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। लेखक ने 8 अध्यायो में अपनी बात स्पष्ट करने का प्रयास किया है–

प्रथम अध्याय– "भारतीय समाज का निर्माण"

इस अध्याय में लेखक ने बताया है कि भारतीय समाज का निर्माण विभिन्न प्रकार के धर्मो, पंथों, संप्रदायों, जातियों, प्रजातियों से मिलकर हुआ है। यहाँ एक ऐसा समाज है, जहां तीन पीढ़ियां एक साथ रहती है। डॉ. दुबे ने भारत में प्रजातियों के आगमन एवं उनकी विशेषताओं को विस्तार से स्पष्ट किया है। प्रजातियों के विलयन की कठिनाइयों को भी स्पष्ट किया गया है। हिंदू धर्म की उत्पत्ति पर भी अपने विचार व्यक्त किए तथा भारतीय समाज पर हिंदू, मुस्लिम, बौद्ध, जैन भक्ति संप्रदाय के प्रभाव की विस्तृत चर्चा की है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– निःसंदेह डॉ.दूबे ने भारतीय समाज के निर्माण के सभी पक्षों को प्रकट किया है, किंतु जाति के प्रभाव व अंग्रेजी शासनकाल के प्रभाव की बहुत सीमित चर्चा की है, जिसकी संपूर्णता में चर्चा की जानी चाहिए थी।

द्वितीय अध्याय– "विविधता और एकता"

अध्याय में लेखक ने 8 मुख्य धार्मिक समुदायों तथा प्रत्येक धर्म के अलग–अलग संप्रदायों (पंथ) की चर्चा की है। साथ ही साथ भाषाई विविधता को भी उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा कि यह सहयोग एवं संघर्ष दोनों का स्रोत है। डॉ. दुबे ने सांस्कृतिक पहचान को भी भारतीय समाज की विविधता का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत माना है। विविधता को स्पष्ट करने के बाद उन्होंने एकता को स्पष्ट किया। उन्होंने बताया कि एकता का सूत्र जहां अतीत को वर्तमान से जोड़ता है वहीं जातीय व सांस्कृतिक विविधता को भी आपस में जोड़ता है। लेखक ने हिंदू धर्म की कुछ मौलिक विशेषताओं की भी चर्चा की जिससे अन्य धर्म भी प्रभावित हुए।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– लेखक ने विविधता और एकता को तो विस्तार से स्पष्ट किया है परंतु एकता को प्रदर्शित करने वाले उदाहरणों की चर्चा करने में असमर्थ रहे हैं, यदि लेखक ऐसा प्रयास किए होते तो उनके विचार तर्कसंगत हो जाते।

तृतीय अध्याय– "वर्ण और जाति"

वर्ण और जाति में लेखक ने अपनी बात को प्रारंभ करते हुए कहा कि भारतीयों के पहचान का प्रमुख आधार परिवार धर्म ,जाति,व कुल है। इसमें जाति सबसे महत्वपूर्ण है। डॉ. दुबे ने वर्णों की संख्या 5 बताई तथा पांचवा वर्ण उन्होंने अंत्यज वर्ण बताया। जाति को स्पष्ट करते हुए डॉ. दुबे ने कहा है कि जातियां वर्णों के उपविभाग है। जाति की उन्होंने सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसका अन्तः विवाही (ENDOGAMY) होना बताया है। डॉ. दुबे ने बताया है कि निम्न जातियां बाहरी जातियों में विवाह को स्वीकार कर लेती है। उच्चजातियों में भी अनुलोम विवाह के उदाहरण मिलते हैं। दुबे ने शूद्र जातियों में भी आपस में ऊंच–नीच की भावना की चर्चा की है। डॉ. दुबे ने कच्चा भोजन व पक्का भोजन के आधार पर भी उच्च व अन्य जातियों के संबंध को स्पष्ट किया है।

जाति एवं राजनीति के संबंध पर भी लेखक ने चर्चा की है। ईसाई एवं मुसलमानों में भी जाति का कुछ प्रभाव देखा जाता है परंतु यह हिंदुओं की तरह सांस्कृतिक नहीं है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– डॉ. दुबे ने अपने अध्याय में वर्ण व जाति की विस्तार से चर्चा की है परंतु जातिवाद एवं राजनीति के मध्य संबंध को और विस्तार से स्पष्ट किए जाने की आवश्यकता थी क्योंकि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में जाति चेतना

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-20, No.- III, Issues-41, YEAR- July-Sept. 2026

की सक्रियता बढ़ती जा रही है, जिससे राजनीतिक व्यवस्था पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। लेखक को इस विषय पर अपने समकालीन विचारों को व्यक्त करना चाहिए था।

चतुर्थ अध्याय– "परिवार तथा नातेदारी व्यवस्था"

इस अध्याय में लेखक ने परिवार तथा नातेदारी के व्यापक संबंधों की चर्चा की है। डॉ. दुबे ने परिवार को एक ऐसे सार्वभौमिक संस्था के रूप में स्पष्ट किया है जिसके विशेषता है– सामाजिक दृष्टि से अनुमत यौन संबंध तथा प्रजनन, सामान घर तथा आर्थिक सहयोग है। भारत में पितृसत्तात्मक परिवारों की प्रधानता है, परंतु मातृसत्तात्मक परिवार भी पाए जाते हैं।

डॉ. दुबे ने आवास,सदस्यों की संख्या आदि के आधार पर भारतीय परिवारों का वर्गीकरण भी किया है उन्होंने कहा है कि हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 से पूर्व हिंदुओं की उच्च जातियों में व्यापक स्तर पर बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन था। वर्तमान समय में परिवार के स्वरूप व कार्यों में हो रहे परिवर्तन की स्पष्ट किया है और कहा है कि आज भी परिवार अपना मूलभूत प्रकार्य कर रहा है। विवाह के अन्तः विवाह एवं बहिर्विवाह के नियमों की भी चर्चा की गई है। हिंदू विवाह के साथ–साथ मुस्लिम व ईसाई विवाह पर भी लेखक ने अपने विचार प्रस्तुत किए। नातेदारी व्यवस्था पर अपनी बात रखते हुए लेखक ने कहा कि उत्तर भारत में नातेदारी समूह पितृवंशीय है वहीं दक्षिण भारत में मातृवंशीय परिवार के उदाहरण मिलते हैं।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– अध्याय का नाम परिवार व नातेदारी व्यवस्था रखा जबकि इसका ठीक नाम विवाह परिवार तथा नातेदारी व्यवस्था होना चाहिए था क्योंकि लेखक ने विवाह की भी चर्चा की है। डॉ. दुबे ने यह स्वीकार किया है कि एकल परिवारों का प्रचालन बढ़ रहा है, किन्तु उन कारकों की चर्चा नहीं कि है, जो इसके लिए उत्तरदायी हैं। यदि लेखक ने इस पर ध्यान दिया होता, तो पाठकों की जिज्ञासा पूर्ण हो सकती थी। नातेदारी व्यवस्था को भी और विस्तार से स्पष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

पंचम अध्याय– "ग्रामीण व नगरीय संदर्भ"

इस अध्याय में लेखक ने गांव को आत्मनिर्भर गणतंत्र के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि आस–पास के गांव अपनी आवश्यकताओं के लिए एक दूसरे पर निर्भर रहे हैं। प्रत्येक गांव में जातियों के बीच सेवाओं के आदान–प्रदान की एक व्यवस्था होती है, जिससे जजमानी व्यवस्था कहते हैं। यह व्यवस्था पीढ़ीगत होती है। ग्रामीण जीवन का एक प्रमुख विशेषता गुटबंदी भी है, जो कई क्षेत्रों में दिखती है। डॉ. दुबे ने ग्रामीण समाज की विशेषता को स्पष्ट करने के लिए गाँव और नगर में अंतर स्पष्ट किया है। यहाँ पर लेखक ने तुलनात्मक अध्ययन पद्धति को आधार बनाया है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– लेखक ने अध्याय के नाम के अनुरूप दोनों अवधारणाओं को समान महत्व नहीं दिया है। उनका मुख्य बल ग्रामीण समाज को ही विस्तार से स्पष्ट करना रहा है। उन्होंने नगरीय समाज को अवधारणत्मक स्तर पर स्पष्ट करने का भी प्रयास नहीं किया है। केवल गाँव का नगर से अंतर स्पष्ट करते समय ही नगरीय विशेषताओं की चर्चा की है। लेखक के इस अवधारणात्मक कमी से कहीं न कहीं यह अध्याय अपूर्ण प्रतीत होता है।

षष्ठम अध्याय– "नगरीकरण के स्वरूप"

इस अध्याय में लेखक ने भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया है। उन्होंने अपनी बात प्राचीन समाज के नगरीय केंद्रों से प्रारंभ की और लिखा है कि उस समय व्यापारिक, धार्मिक, शिक्षा व राजनीतिक नगर केंद्र थे। अंग्रेजों के काल में भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया में तेजी आयी। लेखक ने नगरीय जीवन की कुछ विशेषताओं की चर्चा की है तथा कहा है कि कमोबेश पूरे भारत में यही स्थिति है। लेखक ने नगरीय समस्याओं से जुड़े चार समस्याओं– निर्धनता, आवास कि समस्या, नागरिक सुविधाओं का अभाव ,तथा गरीबों की महान सांस्कृतिक शून्यता की चर्चा की है। उन्होंने तथ्यों के साथ इन समस्याओं को समझने का भी प्रयास किया है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– लेखक ने नगरों के उद्भव व विकास पर विस्तार से चर्चा करने से परहेज किया है जिससे पाठकों के मन की जिज्ञासा पूरी नहीं हो पाती। नगरीकरण की समस्या को संकुचित कर देखने का प्रयास किया है तथा बहुत सी समस्याओं को नजरअंदाज कर दिया है, जिसको स्पष्ट किया जाना चाहिए था। इसके साथ–साथ लेखक ने सांस्कृतिक आधार पर भी नगरीकरण को स्पष्ट करने में कम रुचि ली है। लेखक ने नगरीकरण की समस्या के समाधान में को भी स्पष्ट करने का प्रयास नहीं किया है।

सप्तम अध्याय– "स्त्री– पुरुष संबंध"

सातवें अध्याय में लेखक ने अपनी बात को प्रारंभ करते हुए कहा कि भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति दुविधात्मक है। भारत में अधिकांशतः पितृसत्तात्मक समाज ही पाया जाता है। स्त्रियों पर पुरुष समाज द्वारा बहुत से नियंत्रण लगाए गए हैं। स्त्री के पास जो स्त्री धन होता है, उस पर भी उसका पूरा नियंत्रण नहीं होता। मध्यमवर्गीय परिवारों में भी स्त्री की प्रभुसत्ता कमजोर पड़ रही है। महिला को कामकाजी होने पर भी घरेलू कार्य करना ही पड़ता है,जिससे मध्यम वर्गीय परिवारों में भूमिका संघर्ष देखने को मिलता है। हिंदू समाज में महिला के लिए बहुत सी चारित्रिक मापदंड निर्धारित किए गए हैं।

लेखक ने समाज सुधार आंदोलनों एवं शासन के द्वारा स्त्री व कन्याओं की स्थिति में सुधार करने के लिए उठाए जाने वाले कदमों की भी चर्चा की है, परंतु लेखक का स्पष्ट रूप से यह मानना है कि आज भी भारतीय महिलाओं की स्थिति दयनीय है। संवैधानिक एवं कानून व्यवस्था के सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक अनुपालन में बहुत अंतर्विरोध है जिस कारण महिलाओं को उनके अधिकार नहीं मिल पाते।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– लेखक ने इस अध्याय में महिला एवं पुरुष की समकालीन सामाजिक प्रस्थिति का वर्णन किया है परंतु लेखक के विचारों से ऐसा भी प्रतीत होता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शासन के प्रयासों से महिलाओं की प्रस्थिति में जो सुधार हुआ है, उसे पूरी तरह से अनदेखा कर दिया है।

अष्टम अध्याय– "परिवर्तन की प्रवृतियां"

इस अध्याय में लेखक ने समकालीन भारतीय समाज में व्याप्त अंतर्विरोध तथा परिवर्तनों की चर्चा की है। एक तरफ भारतीय समाज आध्यात्मिकता कई बात करता है, तो दूसरी तरफ इसी समाज के अभिजन वर्ग का एक बड़ा वर्ग अनैतिक एवं उपभोक्तावादी

प्रवृत्ति में संलग्न है। देश ने खाद्यान्न, सुरक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन, शिक्षा आदि क्षेत्रों में सकारात्मक उपलब्धि प्राप्त की है। भारतीय समाज में जो आज सुधार दिख रहा है, वह समय–समय पर मनीषियों द्वारा किए गए सुधार आंदोलनों का परिणाम है। यह सुधार आंदोलन मुख्यता समाज के निचले तबके द्वारा किए गए हैं। समाज सुधारकों के प्रयास के कारण ही आज भी हिंदू समाज सनातन बना हुआ है।

अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में भी सुधार देखे जा रहे हैं, यद्यपि भूमि सुधार का बहुत व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा है। हरित क्रांति का भी लाभ धनिक किसानों को ही अधिक मिला है। पर्यटन के क्षेत्र में सुधार देखा जा रहा है। आर्थिक क्षेत्र में सुधार हुआ है, परंतु बेरोजगारी व गरीबी की स्थिति में व्यापक सुधार नहीं हुआ है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय राज व्यवस्था में व्यापक परिपक्वता आई है परंतु अभी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था में पूर्ण रुप से परिपक्वता नहीं देखी जा सकती है। आज भी जाति एवं धर्म राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका बनाए हुए हैं। भारतीय सांस्कृतिक व्यवस्था में भी व्यापक परिवर्तन हुआ है। डॉ. दुबे ने परिवर्तन के साथ–साथ भारतीय समाज की निरन्तरता की भी चर्चा की है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन– डॉ. दुबे ने इस अध्याय में अर्थव्यवस्था,राजनीतिक व्यवस्था,ग्रामीण समाज ,सांस्कृतिक व्यवस्था आदि क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तन की प्रवृत्तियों की विस्तृत चर्चा की है परंतु जाति व्यवस्था, शिक्षा, तकनीकी आदि क्षेत्रों में हो रहे व्यापक परिवर्तन को स्पष्ट नहीं किया है, जो कि लेखक की एक कमी रह गई है। इससी के साथ–साथ भारत में शहरी समाज में उभरते नव अभिजन वर्गों के विषय में भी उन्होंने कोई चर्चा नहीं की है।

समाजशास्त्रीय विश्लेषण– लेखक ने इस पुस्तक का लेखन कार्य संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक पद्धति के आधार पर किया है। लेखक का मुख्य बल भारतीय समाज को व्यापक रूप से स्पष्ट करते हुए उसमें हो रहे समकालीन सामान्य परिवर्तनों को स्पष्ट करना है। लेखक ने कुछ अध्यायों में अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए तुलनात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया है।

पुस्तक की विशेषता– लेखक की भाषा शैली ,वाक्य विन्यास सुगठित है। लेखक ने अध्याय का संयोजन बहुत ही क्रमबद्ध तरीके से किया है। साथ ही साथ अध्याय के अंतर्गत विषय वस्तु का वर्णन भी विषय से संबंधित है। यह पुस्तक लेखक की एक मौलिक रचना है, जो कि समाजशास्त्र के विद्यार्थियों को समझने के लिए एक नई दृष्टि प्रदान करती है।

पुस्तक की सीमाएं– कोई भी रचना कभी भी अपने आप में पूर्ण नहीं हो सकती। इस पुस्तक में भी लेखक ने भारतीय समाज से जुड़े हुए अधिकतर पक्षों को समाहित करने का प्रयास किया है, किन्तु भारतीय धर्म, संस्कृति, जनसंख्यात्मक पहलू आदि पर अपने विचार प्रस्तुत नहीं किए हैं। इसके साथ ही साथ भारतीय समाज में हो रहे परिवर्तन के प्रक्रिया को भी अति संक्षेप में समेटने का प्रयास किया है।

निष्कर्ष– लेखक ने भारतीय समाज के व्यापक पक्षों की चर्चा की अपनी पुस्तक में की है। पुस्तक में अध्याय की क्रमबद्धता भी ठीक है, परंतु औद्योगिकरण एवं आधुनिकता से संबंधित एक अध्याय और रहा होता तो पुस्तक को और संपूर्णता प्राप्त हो गई होती। लेखक ने कहीं कहीं किसी पक्ष को अधिक उद्घाटित किया तथा कहीं–कहीं महत्वपूर्ण पक्षों को बहुत संक्षेप में स्पष्ट किया है, जिससे विश्लेषण का पक्ष कहीं–कहीं कमजोर हो गया है, परंतु लेखक ने भारतीय समाज की समकालीन स्थिति को ध्यान में रखते हुए एक प्रामाणिक पुस्तक की चर्चा की है, जो कि समाजशास्त्र के विद्यार्थियों के साथ–साथ सामान्य जनता के लिए भी बहुत उपयोगी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. दुबे. श्यामा चरण. (1990), भारतीय समाज, नई दिल्लीः नैशनल बुक ट्रस्ट। .

*****